भारतीय दर्शन में कर्म–नियम द्वारा व्यक्तित्व निर्माण।

हरीश दत्त
शोधार्थी
संस्कृत व पालि विभाग
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

शोध–पत्र सार

प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से कर्म–नियम का उदय होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार कारण के आधार पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता है। प्रत्येक वस्तु प्रतीत्यसमुत्पन्न है। इस प्रकार कर्म–नियम प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम में समाहित है। कर्म–नियम का सार यही है कि प्रत्येक कर्म का कोई न कोई फल अवश्य होता है। कर्म कारण है और फल उसका कार्य है। मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके अतीत का परिणाम है और भविष्य वर्तमान जीवन का परिणाम होगा। कर्म–नियम के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है। जब एक पीड़ित शिष्य बुद्ध के पास गया, जिसका सिर फटा हुआ था और उससे रक्त बह रहा था, तब महात्मा बुद्ध उससे कहते हैं, ''हे अर्हत! इसे इसी प्रकार सहन करो, क्योंकि तुम अपने उन कर्मों का फल भोग रहे हो जिसके लिए तुम्हें सदियों तक नरक का कष्ट सहन करना पड़ेगा।''

मुख्य शब्दः कर्मफल, प्रकृति, अस्तित्व, पवित्र, नियम इत्यादि।

भूमिकाः

भारतीय दर्शन तत्व की बौद्धिक व्याख्या से ही संतुष्ट नहीं होता। वह, उस तत्व की अनुभूति भी करना चाहता है। भारतीय दर्शन का आरम्भ जीवन की समस्याओं का हल खोजने की तीव्र उत्कंठा से हुआ।यह संसार क्या है ? इसका प्रयोजन क्या है? जीव, आत्मा, ईश्वर और कर्म इन शब्दों का स्वरूप क्या है? ईश्वर है या नहीं? कर्मों के नैतिक अनैतिक का निर्णय कैसे हो? इस प्रकार के प्रश्नों के समाधान की खोज करने हेतु भारतीय दर्शन विकसित हुआ है।

भारतीय दर्शन में दो बातों पर विशेष ध्यान दिया गया है– ज्ञान और कर्म। लौकिक दृष्टि में ज्ञान का अर्थ है, जीवन को सुखमय बनाने का ज्ञान। जिसे विवेक, प्रतिभा, मेधा कहा गया है। इसी प्रकार कर्म का अर्थ आचार एवं आचरण से है। जब हमारा ज्ञान विवेक सम्वत होगा, सूक्ष्म होगा

मानव जीवन कल्याण की चेतना से परिपूर्ण होगा। इसके लिए हमारे कर्म (आचरण) उसी के अनुरूप होने चाहिए।

कर्मणोऽपि प्रत्यक्षत्वमन्यथासिद्धेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानु विधानात् समर्थनीयम्।[1]

शुद्ध कर्म नियम की भावना से परिपूर्ण व्यक्ति ज्ञान के द्वारा कल्याण कार्य करने हेतु प्रेरित होगा इसलिए विविध भारतीय दार्शिनिक विद्वानों ने कर्म नियम सिद्धान्त द्वारा सात्विक चिन्तन से सत्य से शक्ति का रहस्य भान करके शुद्ध कर्म का आधार व्यक्ति के व्यक्तित्व को सुदृढ़ करता है।

श्रेयो हि पुरूषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः।

चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात् तेषवेव धर्मता।।[2]

कर्म सिद्धान्त :

कर्म सिद्धान्तभारतीय दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। चार्वाक को छोड़कर सभी परम्परागत भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने विस्तृता के साथ विचार किया है। इसी विचार के कारण इसमें व्यक्तित्व निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है।

अविभुदाव्यमात्रस्थं प्रत्यक्षं चलनात्मकम्।

वियोगयोगर्योमूलं कर्म कर्मविदो विदुः ।।[3]

सभी दार्शनिक स्वकीय दृष्टिकोण से कर्म सिद्धान्त को मानवीय जीवन में व्यावहारिक मानते हैं। हम निम्न दर्शनों में कर्म सिद्धान्त को श्रंखलाबद्ध रूप में देखते हैं।

[1]दर्शन दिग दर्शन 4/18
[2]मानमेयोदय 1/23
[3] भारतीय दर्शन 4/17

सांख्य दर्शन में कर्म नियम :

सांख्य दर्शन कर्म सिद्धान्त में अधिक विश्वास रखता है। वह पुरूष को चैतन्य मानता है। सर्वप्रथम सांख्य दर्शन ही कर्म फल व्यवस्था को स्वीकार करता है। सांख्य के अनुसार कर्म का फल स्वतः मिलता है क्योंकि सांख्य दर्शन ईश्वर को कर्मफल दाता के रूप में नहीं मानता और कर्म नियम का पूर्व जन्म से अटूट सम्बन्ध स्वीकार करता है। इसके अनुसार कर्म नियम और पूर्व जन्म आत्मा के साथ संगति असाध्य नहीं है। विवेक ख्याति द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है फिर भी शुभ कर्मो का आचरण आवश्यक है। शुभ कर्मों का अनुष्ठान अन्तकरण की शुद्धि द्वारा जिज्ञासु अधिकारी हो विवेक ज्ञान की स्थिति में पहुंचाता है। निष्काम कर्म अनुष्ठान में यद्यपि फल की कामना नहीं रहती।

वैशारधं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा।

भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात् ते कृपणाः स्मृताः।।[4]

सकाम कर्म द्वारा प्रेरणा रूप में शुभता की वृद्धि होती है। यदि सकाम कामना में कामना, ईर्ष्या, द्वेष आदि की भावना बढ़ जाए तो अन्तकरण को मलीन कर देती है। इस कारण गीता में निष्काम कर्म अनुष्ठान को श्रेष्ठ कहा है क्योंकि इसमें फल की कामना नहीं रहती। केवल ज्ञान का फल आत्यन्तिक होता है। अन्य सकाम कर्मों के फल अल्प काल तक रहते हैं, परन्तु निष्काम कर्म का फल लौकिक सुखों के साथ अलौकिक सुखों की पूर्ति करता है। अतः सांख्य अनुसार कर्म नियम द्वारा व्यवहारिक जीवन में लौकिक भोगों का सुख प्राप्त होता है। जिसके द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व को बल मिलता है।

[4]सर्वदर्शन संग्रह 16

योग दर्शन में कर्म नियम :

योग दर्शन में कर्म को कर्माष्य या क्लेश कहा जाता है। कर्माष्य शब्द का अर्थ कर्मजनित शुभाशुभ संस्कार है। महर्षि पंतजलि के अनुसार क्लेश कर्म पांच प्रकार के हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभनिवेश। ये पांच क्लेश भी जीव मात्र को संस्कार चक्र में भ्रमित करने वाले दुखदायक हैं। इसी कारण महर्षि पंतजलि ने इनका नाम क्लेश रखा है। अविद्या मूल क्लेश है बाकि चार इसी पर आश्रित हैं। अविद्या अज्ञान नहीं बल्कि भ्रम है। कर्मों के संस्कारों की जड़ उपर्युक्त पांचों क्लेश हैं। जब तक क्लेश रूपी जड़ विद्यमान रहती है, तब तक इन कर्मों के संस्कार समुदाय रूप कर्माष्य को विपाक तीन रूपों में होता रहता है।

''सामान्यादप्युपलर्ब्धेमृत्युवन्न ही लोकापत्तिः।''[5]

अर्थात् – 1.बार–बार अच्छी योनि में जन्म लेना।

2.वहाँ पर निश्चित आयु तक जीवित रहकर मरण दुख को भोगना।

3. जीवन व्यवस्था में दुख रूप भोगों का समन्वय होना।

महर्षि पंतजलि के अनुसार कर्म नियम :

पंतजलि ने योगी के अतिरिक्त साधारण मनुष्य के कर्म तीन प्रकार के बताए हैं।

1. शुक्ल तथा पुण्य कर्म – इसमें कर्मों द्वारा फलसुख भोग है।

2. कृष्ण तथा पाप कर्म – इसका फल नराकादि के कारण है।

3. शुक्ल–कृष्ण कर्म – इसमें पुण्य और पाप का मिश्रित रूप है।

[5]बृहदा उप० 2/11

कर्म एवं मुक्ति :

महर्षि पंतजलि के अनुसार कर्मों के संस्कारों की जड़ क्लेश है। इन क्लेशों के न रहने पर किए हुए कर्मों से कर्माष्य नहीं बनता वैसे राग द्वेष रहित निष्काम कर्म जो पूर्व संचित कर्माष्य का भी नाश करने वाले होते हैं।

परोक्षं कर्म कर्मत्वादादित्यगतकर्मवत्।

अक्षतभावभावित्वं क्षीणं लिंगस्य दर्शने।। '[6]

पंतजलि के अनुसार – कर्म एवं जन्म के चक्र को समाप्त करने का साधन केवल तत्व ज्ञान है। इससे योगी के चित में अति स्वच्छता आ जाती है। उसका चित्त सभी प्रकार की वृतियों का निरोध करने में समर्थ हो जाता है। उसमें विलक्षण शक्ति आ जाति है। योगी सर्वत्र हो जाता है। जिसे उस योगी के अविद्या आदि पांचों क्लेशों का तथा शुक्ल, कृष्ण एवं शुक्ल–कृष्ण ऐसे तीनों प्रकार के संस्कार समूल नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार वह योगी जीवनमुक्त हो जाता है।

मीमांसाके अनुसार कर्म सिद्धान्त :

मीमांसा दर्शन में कर्म को विशेष स्थान प्राप्त है क्योंकि इस दर्शन को कर्म मीमांसा दर्शन कहा जाता है। मीमांसकों ने कर्म को धर्म का नाम दिया है। वेदाज्ञा पूर्वक जिस कर्म को करने की प्रेरणा हों वह धर्म का लक्षण है। विधि विधान पूर्वक जिस कर्म को करने से जन्म जन्मान्तर में परमानन्द अनुभूति हो वह वेद प्रतिपाद्य कर्म का अनुष्ठान कर्म के लक्षण का द्योतक है। वेद विहित कर्तव्य कर्म ही धर्म है। इसको इस प्रकार यज्ञ आदि धर्म भी कर्म हैं। जो वेद द्वारा प्रतिपादित प्रयोजन कला

[6]मानमेयोदय 34

तथा सार्थक हों। ऐसे धर्म को ही मीमांसकों ने कर्म की संज्ञा दी है। इन्हीं कर्मों के करने से मनुष्य के व्यक्तित्व में इन्हीं सभी गुणों की वृद्धि होती है।

श्रद्धां मेधां यशः प्रज्ञां विद्यां बुद्धिं श्रियं बलम्।

आयुष्यं तेज आरोग्यं देहि में एतत् कर्मम्।।'[7]

मीमांसा के अनुसार वेदानुकूल कर्म ही उचित हैं। जो मानव को मुक्ति दिलाने में सहायता करता है। वेद प्रतिपादय कर्म पांच प्रकार के हैं – नित्य, प्रायश्चित, नैमैतिक, उपासना, निषिद्ध।

मीमांसा दर्शन में कर्मफल दाता के रूप में मुख्य रूप से मुक्ति के लिए कर्म पर बल देते हैं। जैसे कि वेदों में कहा गया है **''यज्ञेत सर्वकामः''** अर्थात स्वर्ग की कामना करने वाले को यज्ञः करना चाहिए। निषिद्ध तथा काम्य कर्मों से चित को अच्छी तरह से हटा लेना चाहिए। और इसके पश्चात नित्य, नैमैतिक तथा प्रायश्चित कर्मों से अनुष्ठान करना चाहिए जिससे प्राणी के समस्त पातक ध्वस्त हो जाएं। मीमांसकों ने वेद को इस उक्ति द्वारा यही सन्देश लिया है

''मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्'' [8]

अर्थात् हे मनुष्य! तू मनु बन तथा दिव्य व्यक्तित्व के निर्माण में अपने जीवन को लगा।

यहां कर्ममाण्ड के मार्ग से मीमांसा का धर्मशास्त्र अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाता है जहां निष्काम कर्म कर्तव्य के लिए प्रयुक्त होते हैं तथा मुक्ति प्रदान करने में सहायक बनते हैं।

सहद्धयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः

अन्यों अन्यममिर्ध्यत वत्सं जातमिवाहन्या।। [9] **अर्थववेद 3/30/9**

[7]याज्ञवल्क्य स्मृति 4/28
[8]ऋग्वेद 10/53/6
[9] अथर्ववेद 3/30/9

शंकर वेदान्त में कर्म सिद्धान्त :

आचार्य शंकर ने कर्म विधान को स्वीकार किया है। व्यक्तित्व अर्थात पृथकत्व का आधार कर्म ही है। कर्म अविद्या की उपज है। जिस जगत में हम उत्पन्न हुए हैं वह कर्ता के ऊपर उसके पूर्व कर्मों का प्रतिपादन मात्र है।

''स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व महिमा ते

अन्येन न सन्नशे, ।'' [10] **यजुर्वेद 23/15**

अर्थात हे कर्म और ज्ञान से सम्पन्न मनुष्य। तू अपने शरीर को समर्थ बना, स्वयं उत्तम कर्म कर, समर्थशाली बन।

आचार्य शांकर के अनुसार समस्त क्रियमाण व्यापार कर्म है; कर्म के लिए देहादि चेष्टाएं अनिवार्य है। कर्म नैसर्गिक हैं और इसी को संसार अथवा विश्व के नाम से अभिहित किया जाता है कर्म की उत्पति में गुण और स्वभाव ये दो सहकारी कारण हैं कर्म नियम समस्त लौकिक व व्यावहारिक सत्य की प्रतिष्ठा करता है। और जगत को क्रम का विभाजन प्रदान करता है। गुण प्रकृति के अन्तर्भूत हैं और गुणों का समुच्य ही प्रकृति है, उसी प्रकार कर्मों में गुणों की क्रिया और उसका प्रभाव स्वाभाविक है। शंकर के अनुसार पूर्व जन्मान्तरों में किए गए कर्म संस्कार रूप में रहते हैं। वे संस्कार ही वर्तमान जन्म में कार्यरूप में व्यक्त होते हैं। संस्कारों की यह अभिव्यक्ति ही स्वभाव है। इसी अभिव्यक्ति से प्रेरित होकर जीव कर्म करता है।

क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इहनोपपद्यते।[11]

[10]यजुर्वेद 23/15
[11]शा. भाष्य 2/23

बौद्ध–दर्शन में कर्म–नियम :–

बौद्ध–दर्शन नास्तिक विचारधारा का दर्शन है और नित्यात्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। लेकिन महात्मा बुद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म–नियम के प्रति उतनी ही गहन आस्था रखते हैं जितनी आस्था आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने वाले दर्शन करते हैं।

बौद्ध धर्म के अनुसार कर्म के प्रकार :–

बौद्ध–दर्शन में कर्म के तीन भेद किए गए हैं– कायिक कर्म, वाचिक कर्म और मानसिक कर्म। इनमें अशुभ और शुभ कर्म हैं। ये हैं :–

		अशुभ कर्म	शुभ कर्म
1.	कायिक कर्म :–	(क)पाणातिपात (प्राणी हत्या करना)	पाणातिपातविरति (प्राणी हत्या न करना
		(ख)अदन्नादान (चोरी करना)	अदन्नादान (चोरी करना)
		(ग)कामेसुमिथ्याचार (कामभोग सम्बन्धी मिथ्याचार)	कामेसुमिथ्याचार विरति
2.	वाचिक कर्म :–	(क)मृषावाद (असत्य भाषण)	मृषावदविरति(सत्यभाषण)
		(ख)पिसुणावाचा(पिशुन वचन)	पिसुणा विरति(अपिसुन वचन)
		(ग)फरूषवाचा(कठोर वचन)	अफरूषवाचा(मृदु वचन)
		(घ)सम्फलाप(व्यर्थ के अलाप)	अम्सफलाप (असंलाप)

3. मानसिक कर्मः–	(क)अभिध्या (लोभ)	अनभिध्या (अलोभ)
	(ख)व्यापाद(घृणा व द्वेष)	अव्यापाद (अद्वेष)
	(ग)मिच्छादिट्ठि(मिथ्यादृष्टि)	सम्यक् दृष्टि

कर्त्ता की स्वतन्त्रता :–

बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह स्वयं अपने इच्छाधीन शुभ संकल्पों और कार्यों से स्वयं को पवित्र बनाता है। आदमी स्वयं अशुभ करने से रूकता है और स्वयं अपनी पवित्रता का कारण बनता है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है। धम्मपद में ऐसा वर्णन मिलता है,

"प्रत्नेण सुझणां ओस् निर्वाणं।"[12]

अर्थात्प्रयत्न करके स्वयं अपना निर्वाण करो। बौद्ध–दर्शन अनुसार जीव कर्म बन्धन में नहीं पड़ता है, अपितु कर्म जीव के अधीन होता है। मज्झिमनिकाय में कहा गया है ''जीव अपने कर्मों का स्वामी है, अपने कर्मों का उत्तराधिकारी है।''

कर्म एवं पुनर्जन्म :–

कर्म–नियम से केवल मात्र मनुष्य का वर्तमान जीवन ही नियन्त्रित नहीं है, अपितु उसका पुनर्जन्म भी कर्म से ही नियन्त्रित है। लेकिन बौद्ध–दार्शनिक किसी नित्यात्मा को मानते ही नहीं, तो पुनर्जन्म किसका होगा? महात्मा बुद्ध के अनुसार आत्मा नित्य नहीं है, बल्कि वह पाँच स्कन्धों का एक संघात है, जो क्षण–क्षण में परिवर्तित होता रहता है। महात्मा बुद्ध ने पुनर्जन्म को दीपक की लौ का दृष्टान्त देकर समझाया है। दीपक रात भर जलता है लेकिन उसकी लौ सारी रात एक ही नहीं रहती है, उसमें लगातार परिवर्तन होता रहता है। दीपक की लौ वास्तव में एक नहीं होती बल्कि

[12] धम्मपद – 1/11

अनेक होती है और उसमें एक अविच्छिन्नता रहती है। इसी प्रकार इस जीवन के चैतन्य का अन्तिम विज्ञान अगले जीवन के चैतन्य के प्रथम विज्ञान को जन्म देता है। विज्ञान–सन्तान में अविछिन्नता रहती है, लेकिन विज्ञान बराबर बदलते रहते हैं। प्रत्येक विज्ञान एक क्षण तक ही रहता है और फिर लुप्त हो जाता है। इस प्रकार कर्म–नियम और अनात्मवाद का समन्वय हो जाता है।

अनासक्त कर्मों से निर्वाण की प्राप्ति :–

बौद्ध–दर्शन के कर्म–नियम में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह सामने आता है कि मनुष्य स्वयं अपना विकास कर सकता है अर्थात् भाग्य निर्माता है। अब तक के कर्म–नियमों में हमने देखा है कर्म मनुष्य करता है और उसका फल ईश्वर देता है, लेकिन बौद्ध–दर्शन में ईश्वर को कर्मफलदाता नहीं माना गया, बल्कि किए हुए कर्मों के फल स्वयं मिल जाते हैं, चाहे वे अच्छे हों या बुरे। इस प्रकार बौद्ध–दर्शन का कर्म–नियम विफलता के समय मनुख्य को यह आश्वासन देता है कि स्वयं ही अपनी विफलता के लिए उत्तरदायी है, कोई दूसरा नहीं। भविष्य के लिए कर्म–नियम प्रेरणादायक है, क्योंकि भविष्य वर्तमान के कर्मों पर ही आधारित है।

उपसंहार :

भारतीय दर्शन में कर्म का विकास काफी अन्तराल लिए हुए हैं। ऋग्वेद से शुरू होकर यह प्रक्रिया षडदर्शनों व नास्तिक दर्शनों में प्रफुल्लित होकर, आज भी विकास की और अग्रसर है। सभी भारतीय दर्शनों में कर्मनियम का सिद्धान्त मुख्यतः जीव के व्यक्तित्त्व को सुदृढ़ बनाने के लिए वर्णित किया गया है। इसी में ही कुछ आधारभूत मान्यताएं उभर कर सामने आती हैं जो कि व्यक्तित्व निर्माण में अहम उपयोगी है। जैसे कि नैतिक कर्म अनवार्यतः फलयुक्त होता है कर्म का चक्र अनन्त है तथा मनुष्यों को कर्म के फल भोगने पड़ते हैं। इसी को कर्म विपाक कहते हैं। कर्म विपाक का पहला नियम है कि जहां कर्म का एक बार आरम्भ हुआ फिर उसका चक्र या व्यापार आगे बराबर

अखण्ड रूप से सतत चलता रहता है। वह तब तक चलता है जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो जाए। तब तक शुभ कर्म का फल शुभ, अशुभ कर्म का फल अशुभ मिलता है। कर्म केवल भौतिक क्रिया ही नहीं अपितु इसके अन्तर्गत मानसिक, आध्यात्मिक और भावात्मक सभी प्रकार की क्रियाएं होती हैं इसलिए आचार्य शांकर का भी मत है कि कर्मका प्रतिफल या तो इस लोक में या परलोक में मिलता है। कर्म से आत्मा बन्धन में पड़ती है। कर्म द्वारा मोक्ष भी संभव है। गीता तथा मीमांसा दर्शन का भी यही मत है कि कर्म की व्याख्या आत्मा के साथ संबंध की तात्विक मान्यता पर आधारित है। कर्म जीव के व्यक्तित्व में विद्यमान अपरिहार्य विषमता और विसंगतियों में रहने वाले भ्रमों को दूर कर संतुष्ट रहने वाले एक दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है क्योंकि जीव मे कर्मों के कारण ही कोई धनी है तो कोई निर्धन, कोई सुखी है तो कोई दुखी। गीता में श्री कृष्ण ने कर्म बन्धन को इस प्रकार कहा है :–

शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः
सन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।। [13]

यही सब कर्म जीवों के व्यक्तित्व में अनेक विषमताओं का जनक होते हैं। इसी कारण से आधुनिक युग में मनुष्य का व्यक्तित्व एक हताश, बंधित, एवं जडरूप का होकर रह गया है। इसलिए केवल भारतीय दर्शन में कर्म नियम का उद्देश्य इन सब विसंगतियों को दूर करके व्यक्ति का निर्माण करना है। उपयुक्त कर्म सिद्धान्त को व्यवहारिक जीवन में अपना कर मनुष्य अपने व्यक्तित्व को श्रेष्ठ बना सकता है।

''**अकर्मा दस्युरभि नो मिमन्तुरन्यव्रतो भि मानुषः**''[14]

[13] गी० 9/28
[14]ऋग्वेद सहिंता 10/22/8

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेद, शास्त्री, राम राजा, प. लाहौर, 1937
2. अभिधम्म पिटक, गुप्ता, एस.एन.डॉ., किताब महल, इलाहाबाद, 1986
3. गीता रहस्य –तिलक, लोकमान्य किताब महल, इलाहाबाद, 1949
4. धम्मपद, वर्मा, वी.पी. डॉ.,आस्था पब्लिकेशन, जयपुर, 1992
5. मंझमनिकाय, स्वामी योगीन्द्रानन्द, संस्कृत ग्रन्थ माला, वाराणसी, 1988
6. मानमेयोदय, योगीन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1996
7. ऋग्वेद संहिता, सम्पादक विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द, होशियारपुर, सं. 2021
8. दर्शन दिग्दर्शन, सांस्कृत्यायन, राहुल किताब महल, इलाहाबाद, 1944
9. नारद भक्तिसूत्र, वेदान्तानन्द, स्वामी, गीरनार ग्राफिक्स, नागपुर, 1997
10. वैशेषिक दर्शन,झा, हरिमोहन, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1982
11. भारतीय दर्शन, चटर्जी एवं दास, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1995
12. भारतीय ज्ञान,सिंह, डॉ० निलिमा,आस्था पब्लिकेशन, जयपुर, 1999
13. भारतीय दर्शन, पाण्डेय, डॉ० श्रीकान्त, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1993
14. भारतीय दर्शन के सर्वेक्षण, पाण्डेय, संगम लाल, चौखम्बा विद्याभवन, 1988
15. भारतीय दर्शन के मूल तत्व,शर्मा, रामनाथ, दिल्ली प्रकाशन, दिल्ली, 1989
16. वैदिक साहित्य, उपाध्याय, बलदेव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1978
17. सर्वदर्शन संग्रह,शर्मा, ऋषि उमाशंकर, चौखम्बा विद्याभवन, 2003
18. शुक्ल यजुर्वेद, सिंह, उदय नारायण, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1960
19. श्रीमदभगवदगीता, गीता प्रैस, गोरखपुर